02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 23

संवाद

आधुनिकता और लोकतंत्र की द्वंद्वात्मकता का मसला

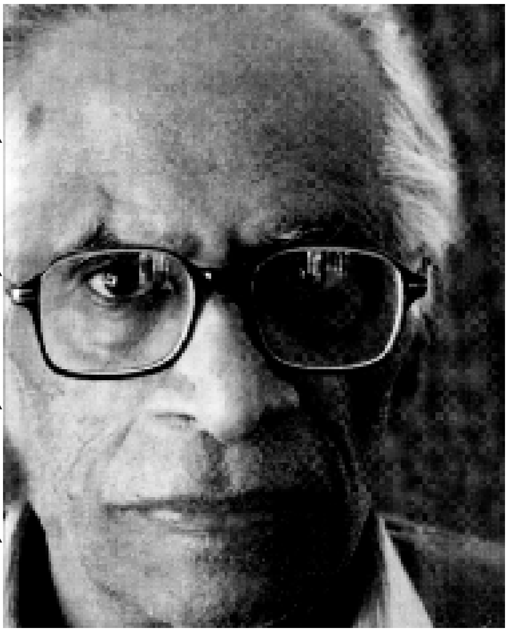

धीरूभाई शेठ नरेश गोस्वामी

चुनाव, सेफ़ोलॉजी और समाजशास्त्र-1

मुख्य सवाल यह है कि हम अभी तक चुनाव का समाजशास्त्र क्यों विकसित नहीं कर पाए?

धीरूभाई शेठ : इस बात के मुख्यत: दो पहलू हैं। एक तो यह कि चुनाव की सोसियोलॉजी और समाज के विकास में सीधा रिश्ता दिखायी देता है या नहीं। भारत में समाजशास्त्र जिस तरह विकसित हुआ है उसमें जाति केंद्र में रही है। आज़ादी के बाद समाजशास्त्र के विकास को देखा जाए तो उसमें तीन चीज़ें मुख्य रही हैं। एक तो शुरू से यह प्रश्न प्रमुख रहा है कि विकास कैसा होना चाहिए। प्रारम्भ में एक परस्परव्यापी स्थिति थी आज़ादी से पहले और बाद के समय में। समाजशास्त्र गाँव, जाति और जातिवाद पर केंद्रित था। जी.एस. घुर्ये के समय में जातिवाद की बात भी आती थी। इस तरह समाजशास्त्र के केंद्र में गाँव और जाति-व्यवस्था का बोलबाला रहा। जहाँ तक चुनावों की बात है तो भारतीय समाजशास्त्रियों का रवैया यह रहा है कि वे राजनीति को एक उप-प्रणाली (सब-सिस्टम) के रूप में देखते रहे हैं। उनका पूरा रवैया यह देखने का रहा कि कोई व्यवस्था, संस्था या प्रणाली अपना अस्तित्व कैसे क़ायम रखती है। उनका ज़्यादा ज़ोर इसी पर रहा है। उनके अध्ययन का डिज़ायन कुछ ऐसा रहा है कि गाँव में जब चुनाव होता है तो वे देखते हैं कि सामाजिक संरचना कैसे प्रकट होती है, संबंध वग़ैरह कैसे बदलते हैं। इस तरह गाँव के स्तर पर जो थोड़े बहुत अध्ययन किये गये उनमें चुनाव सामाजिक संरचना की एक घटना के रूप में प्रकट होते हैं। वे चुनाव को समाज की रूपांतरकारी शक्ति के रूप में नहीं देखते और इस पर ध्यान नहीं देते कि

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 24

समाज के स्थापित पैटर्न को चुनाव किस तरह बदलते हैं। तो, अब तक चुनावों का जो भी थोड़ा बहुत अध्ययन किया गया है, वह मुख्यत: गाँव और जाति के बृहत्तर संदर्भ में किया गया है। और, वह भी बहुत कम है। इस तरह समाजशास्त्र का इस बात को समझने में कोई प्रत्यक्ष योगदान नहीं रहा है कि लोकतंत्र और आधुनिकता से क्या बदलाव आता है।

समाजशास्त्र के दायरे में एक अनुशासन विकसित हुआ है जिसे राजनीतिक समाजशास्त्र कहा जाता है। इस अनुशासन पर एक बड़ा सिस्टेमिक नज़रिया हावी रहा है। उसमें इस बात का ख़याल नहीं रखा गया कि चुनाव आंतरिक स्तर पर किस तरह एक रूपांतरकारी शक्ति की भूमिका भी अदा करते हैं। उसमें 'एनवायरनमेंट ऑफ़ सिस्टम' पर ज़्यादा ज़ोर रहा है और उसकी रूपांतरकारी भूमिका पर कम ध्यान दिया गया है। इस तरह एक बड़ा सिस्टेमिक एप्रोच रहा है समाजशास्त्र का। ऐसा नहीं

अब तक चुनावों का जो भी थोड़ा बहुत अध्ययन किया गया है, वह मुख्यत: गाँव और जाति के बृहत्तर संदर्भ में किया गया है। और, वह भी बहुत कम है। इस तरह समाजशास्त्र का इस बात को समझने में कोई प्रत्यक्ष योगदान नहीं रहा है कि लोकतंत्र और आधुनिकता से क्या बदलाव आता है।

है सारे समाजशास्त्री ऐसे ही थे। कुछ ऐसे भी थे जो अलग ढंग से सोचते थे लेकिन उनके योगदान को हाशिये तक सीमित कर दिया गया। इस तरह के अध्ययनों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका सेफ़ोलॉजी के क्षेत्र में कोई ख़ास योगदान रहा है। अधिकांश समाजशास्त्रियों का सरोकार आधुनिकता और अंतर-जातीय विवाह आदि के अलावा इस बात पर रहा कि सामाजिक संरचना किस तरह काम करती है।

तो चुनाव को विशेष अहमियत नहीं दी समाजशास्त्र ने?

धीरूभाई : नहीं दी। चुनाव का अध्ययन एक एनवायरनमेंट के रूप में हुआ है। और मुझे लगता है कि भारत में समाजशास्त्र का विकास जिस तरह हुआ है उसे देखते हुए हमें उनसे यह उम्मीद करनी भी नहीं चाहिए। वोट बैंक की अवधारणा जैसी छिटपुट टिप्पणियाँ की गयी हैं। यह भी अवधारणा के रूप में बाद में विकसित हुआ है। समाजशास्त्र ने यह नहीं देखा कि चुनाव से गाँव में क्या होता है : वह जाति को मजबूत करता है या उसे थोड़ा बदल देता है।

और सेफ़ोलॉजी के बारे में आपका क्या ख़याल है? सेफ़ोलॉजी ऐसे फ़ैक्टर तो पकड़ ही नहीं पाती जो ख़ामोश क़िस्म के होते हैं। मसलन, आम आदमी पार्टी के उभार को पकड़ने में सेफ़ोलॉजी विफ़ल रही।

धीरूभाई : अगर किसी ऐसे फ़ैक्टर को पकड़ भी ले आजकल की सेफ़ोलॉजी तो भी इससे लोकतंत्र का कोई भला नहीं होता। इससे केवल रेसकोर्स के धंधेबाज़ सरीखे लोगों को फ़ायदा पहुँचता है। इसका एक मनोरंजन का पहलू ज़रूर है, लेकिन मुझे समझ नहीं आता कि उससे लोकतंत्र को क्या

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 25

फ़ायदा होता है। जैसे, आपको बताया जाता है कि किस दल की कितनी सीटें आएँगी। इससे मुद्दे गौण हो जाते हैं। परफ़ारमेंस पर ध्यान नहीं रहता है। लोग असली बात पर चर्चा नहीं करते और बारीक़ियों में नहीं जाते कि पार्टी ने क्या किया है। सारी बात इस नुक़्ते पर केंद्रित हो जाती है कि अमुक दल को कितने वोट मिलेंगे और उसकी कितनी सीटें आएँगी। दरअसल यह सेफ़ोलॉजी वह नहीं है जिसका कभी राजनीतिक समाजशास्त्र के अंग के रूप में विकास हुआ था। इस पर तो अंकुश लगाने की ज़रूरत है। अगर इसे प्रतिबंधित किया जाता है तो मैं इसे अलोकतांत्रिक क़दम नहीं मानूँगा। प्रतिबंध अपने आप में अलोकतांत्रिक हो सकता है लेकिन जैसा कि सोली सोराबजी आदि कहते हैं, इसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं कहा जा सकता।

यह सेफ़ोलॉजी वह नहीं है जिसका कभी राजनीतिक समाजशास्त्र के अंग के रूप में विकास हुआ था। इस पर तो अंकुश लगाने की ज़रूरत है। अगर इसे प्रतिबंधित किया जाता है तो मैं इसे अलोकतांत्रिक क़दम नहीं मानूँगा। .... इसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं कहा जा सकता।

आपने अभी कहा कि चुनाव-अध्ययन के प्रसंग में हमें समाजशास्त्रियों से उम्मीद भी नहीं करनी चाहिए। मुझे लगता है कि समाजशास्त्रियों का रुझान भी ऐसा नहीं था कि इसे अहमियत दे पाते। मैं चाहता हूँ कि इस नुक़्ते पर आप थोड़ी और रोशनी डालें। इस बहस के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

धीरूभाई : आज़ादी के बाद हमारे यहाँ जिस तरह का समाजशास्त्र विकसित हुआ है। उसे हम संरचनामूलक-प्रकार्यवादी नज़रिया कह सकते हैं। उनके अध्ययन में पर्यवेक्षण और विवेचन की इकाई जाति और गाँव रहे हैं। वे मुख्यत: तीन चार गाँवों का सघन अध्ययन करते रहे हैं। उनके लिए समाजशास्त्र एक तरह से संरक्षणवादी उद्यम (मेंटेनेंस सिस्टम) रहा है। मसलन, जाति भी एक व्यवस्था है, गाँव भी एक व्यवस्था है और व्यवस्था के नियम होते हैं जिनके मुताबिक़ वह चलती है। वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि जाति एक स्वत:चालित व्यवस्था है। उसमें व्यवधान आते हैं और उसके प्रकार्य बदलते हैं पर वह बहुत मजबूत साबित होती है। उसकी संरचना कोई बहुत बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन होने पर ही बदलती है। ज़्यादा ध्यान इस बात का रखा गया कि समाजशास्त्र की सीमाएँ निर्धारित रहें, उनका अतिक्रमण न हो। समाजशास्त्र में इसी प्रवृत्ति को मैं संरचनामूलक-प्रकार्यवादी नज़रिया कहता हूँ। समाजशास्त्रियों ने गाँव और जाति का ही अध्ययन किया है। चुनाव का अध्ययन अलग से न करके उसे गाँव में होने वाले विकास और बाहरी माहौल के प्रभाव के अनुषंग के तौर पर लिया है। उन्होंने चुनावों को एक ऐसी परिघटना के रूप में ज़्यादा देखा है जो गाँव की सामाजिक संरचना को जीवंत बना देती है। चुनाव को गाँव और जाति की एक आंतरिक परिघटना की तरह देखने की प्रवृत्ति रही है। ग्रामीण अध्ययन में समष्टिगत समाजशास्त्र को समाजशास्त्र नहीं माना जाता था। हमारे यहाँ शहरी अध्ययन भी बहुत नहीं हुआ। अगर ऐसा होता तो उनकी सीमाओं का भी पता

चलता। शहरी अध्ययन को उतना महत्त्व नहीं दिया गया। वह कभी केंद्र में नहीं रहा।

चुनाव-अध्ययन के संदर्भ में आप जिसे राजनीतिक समाजशास्त्र कह रहे हैं, उसमें शुरू में रजनी कोठारी, आप, योगेश अटल, घनश्याम शाह आदि शामिल थे। यह प्रक्रिया बाद में जाकर मंद पड़ गयी। तो सवाल यह है कि उस राजनीतिक समाजशास्त्र में और आज सेफ़ोलॉजी में जो किया जा रहा है, उसके बीच क्या अंतर है?

धीरूभाई : अंतर यह है कि सेफ़ोलॉजी राजनीति-विज्ञान की मुख्यधारा का हिस्सा है। हमारे यहाँ दो तरह के राजनीतिक समाजशास्त्र हैं। एक तो वह है जिसमें समाजशास्त्र की मिक़दार ज़्यादा है। मतलब वह समाजशास्त्र के अनुशासन में ज़्यादा फ़िट हो जाता है। लेकिन मैंने, रजनी कोठारी और घनश्याम शाह आदि ने राजनीतिक समाजशास्त्र में जिस तरह का काम किया है वह राजनीतिक सत्ता और उसके सिद्धांतीकरण के इर्द-गिर्द संगठित रहा है। पहली धारा पर समाजशास्त्र का नज़रिया हावी रहा है, और दूसरी धारा राजनीति-विज्ञान ख़ासकर राजनीतिक सत्ता के सिद्धांतों से प्रभावित रही है। जहाँ सेफ़ोलॉजी राजनीति-विज्ञान के सिद्धांतों से परिचालित होती है वहाँ राजनीति काफ़ी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इस तरह राजनीतिक समाजशास्त्र के दो रुझान हैं। मैंने एक जगह इसका कहीं रिव्यू भी किया है। सेफ़ोलॉजी इस सिद्धांत का एक बेहद महत्त्वपूर्ण उद्यम है। मुझे लगता है कि छठे, सातवें और आठवें दशक तक सेफ़ोलॉजी का विकास काफ़ी पुख़्ता ढंग से हुआ। वह राजनीति-विज्ञान की एक दमदार गतिविधि हुआ करती थी।

सेफ़ोलॉजी का काम चुनावों के रुझान का अध्ययन करना तथा यह जानना होता है कि लोकतंत्र को चुनाव किस तरह सशक्त करते हैं और चुनावों में किस प्रकार की गतिविधियाँ लोकतंत्र के लिए अपकारी हो सकती हैं। सेफ़ोलॉजी चुनावों की गतिविधियों से इस क़दर जुड़ा होता है कि मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि उसे केवल अकादमिक अनुशासन भर नहीं कहा जा सकता। उसे वस्तुत: लोकतंत्र की एक संस्था भी कहा जा सकता है क्योंकि चुनावी रुझानों के अध्ययन से इस बात को समझा जा सकता है कि लोकतंत्र को समाज में किस तरह ग्रहण किया जा रहा है; और यह कि लोकतांत्रिक सिद्धांतों का संकुचन हो रहा है या विस्तार। उससे यह समझने में मदद मिलती है कि चुनाव में जाति का सवाल लोकतंत्र को कैसे प्रभावित करता है।

आठवें दशक तक बहुत कम लोग चुनाव परिणाम का पूर्वानुमान लगाने का काम करते थे। तब चुनावों का अध्ययन चुनाव सम्पन्न होने के बाद किया जाता था। इसके पीछे यह विचार रहता था कि चुनाव लोकतांत्रिक उसूलों को कैसे प्रभावित, विकसित या बंधित करते हैं। लोग लोकतंत्र से किस तरह जुड़ते हैं और लोकतंत्र और समाज के बीच क्या संबंध होता है। यह कुछ कुछ उस तरह की बात है जैसे आँखों का परीक्षण करने के लिए डॉक्टर आँख की पुतली को दवा डाल कर फैलाते हैं, वैसे ही चुनावों के समय हम इस तरह की चीज़ों को समझने का प्रयास करते थे कि राजनीतिक सत्ता का क्या स्वरूप होता है। हम इन चीज़ों की अच्छी तरह से परख करते थे कि 'कांग्रेस प्रणाली' कैसे कमज़ोर पड़ी। इस तरह के तमाम सैद्धांतिक सूत्रीकरण चुनाव अध्ययन से सामने आये। चुनाव अध्ययन के बिना यह नहीं समझा जा सकता था कि कांग्रेस प्रणाली किस तरह काम कर रही थी और फिर वह कैसे स्खलित हो गयी।

तो क्या आप सेफ़ोलॉजी और चुनाव-अध्ययन को एक ही चीज़ मानते हैं या दोनों के बीच कोई अंतर भी है?

धीरूभाई : भाई, सेफ़ोलॉजी राजनीति-विज्ञान का एक अनुशासन है। वैसे तो इसके तहत चुनाव के

रुझानों का अध्ययन किया जाता है लेकिन वह राजनीतिक सिद्धांत को एक बड़ा आधार मुहैया कराता है। सर्वेक्षण करना उसका केवल एक पहलू है। इसके अलावा आप एथनॉग्रफ़ी भी कर सकते हैं। अन्य सूक्ष्म अध्ययन भी कर सकते हैं, लेकिन भारत में राजनीतिक थियरी की कमज़ोरी का एक बड़ा कारण यह रहा है कि हमारे यहाँ उसका वस्तुनिष्ठ आधार, जो मुख्यत: चुनाव अध्ययन तथा मतदान-व्यवहार से निर्धारित होता है, बहुत पुख़्ता नहीं हो पाया। उसका पर्याप्त इस्तेमाल नहीं किया गया। इसलिए हमारी राजनीतिक थियरी बहुत अमूर्त स्तर पर रहती है। चुनावों का अध्ययन किये बिना हम लोकतंत्र के किसी अच्छे और प्रभावी सिद्धांत की कल्पना नहीं कर सकते। हम चुनावों का अध्ययन किये बिना राज्य की शक्ति के स्वरूप को वस्तुनिष्ठ ढंग से नहीं समझ सकते। इसके बिना राज्य की शक्ति एक तटस्थ श्रेणी बन जाती है, कुछ इस तरह की कि उसे किसी भी प्रकार के राज्य पर लागू किया जा सकता है, चाहे वह लोकतांत्रिक हो या अलोकतांत्रिक। हम भारत में राज्य की बात करना चाहते हैं लेकिन हमें इस बात का कोई एहसास नहीं होता कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया कैसे काम करती है, जबकि इसके बिना राज्य का विचार नितांत खोखला होता है। दरअसल, इसके बिना यह पता नहीं चलता कि राज्य में शक्ति कैसे संकेंद्रित होती है या वह कैसे जगह बदलती है और उसकी गतिकी क्या होती है। लेकिन लोगबाग राज्य के स्वरूप और प्रकारों को एक अमूर्त श्रेणी बना डालते हैं।

मेरे कहने का मतलब यह है कि चुनाव का अध्ययन महज़ संख्या की गणना तक सीमित नहीं रहना चाहिए। मसलन, चुनाव-अध्ययन का उद्देश्य यह जानना भी होता है कि गठजोड़ की राजनीति क्यों और कैसे अस्तित्व में आयी, या कि आठवें दशक में वे कौन से महत्त्वपूर्ण चुनावी बदलाव थे जिनके कारण दलीय प्रणाली और संसद की संरचना में गहरा बदलाव आया। लेकिन भारत में सामाजिक ज्ञान के प्रति एक ख़ास तरह का रवैया हावी रहा है जिसके कारण सर्वेक्षण पर आधारित शोध आदि को कमतर चीज़ माना जाता रहा है। इसके बजाय राजनीतिक सिद्धांतों में राज्य के निर्माण और स्वरूप इत्यादि को ज़्यादा गुरु-गम्भीर काम माना जाता है। मैं इस तरह के सैद्धांतिक आग्रह को कभी नहीं समझ पाया जिसके तहत व्यवहारवादी शोध को अमेरिकी प्रवृत्ति मान कर ख़ारिज किया जाता रहा। सिद्धांतकार उससे हमेशा दूरी बनाकर चले। लेकिन, इससे भी बुरी बात यह हुई कि आठवें दशक में इस काम को भी बीच में छोड़ दिया गया। मुझे नहीं लगता कि ख़ास तौर पर नवें दशक के बाद चुनाव-अध्ययन के अनुशासन ने राजनीति के क्षेत्र को कोई महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक सूत्रीकरण दिया है। इस बीच सेफ़ोलॅजी सिर्फ़ चुनाव परिणामों के अनुमान लगाने तक सीमित रही है जिससे चुनाव-अध्ययन को गम्भीर नुक़सान हुआ है। मुझे लगता है कि यह चीज़ बाज़ार के खिलाड़ियों के लिए ज़्यादा काम की है। चुनाव के परिणामों को लेकर अनुमान लगाने का काम हमेशा जारी रहेगा, लेकिन जो लोग राजनीतिक अध्ययन में ज़्यादा गहरी दिलचस्पी रखते हैं उनके लिए सेफ़ोलॅजी सीटों की गणना करने से कहीं ज़्यादा गम्भीर विषय है।

हमारा अगला सवाल जाति और वर्ग से संबंधित है। आपने लिखा है और हमारा भी मानना है कि नवें दशक के बाद भारत में एक नया मध्यवर्ग पैदा हुआ है। उसका आकार लगातार बढ़ता जा रहा है। इसके पीछे भूमंडलीकरण की शक्ति को ज़िम्मेदार माना जाता है। यह वर्ग जब मध्यवर्ग के तौर पर आचरण करता है तो जाति के तौर पर आचरण नहीं करता लेकिन जब वह वोट डालने जाता है तो क्या तब भी मध्यवर्ग के तौर पर आचरण करता है? तो जाति इस मध्यवर्ग के संदर्भ में क्या भूमिका निभाती है? या मध्यवर्ग का वर्ग होना चुनाव के संदर्भ में जाति-व्यवस्था के ऊपर किस तरह का असर डालता है?

धीरूभाई : चुनाव के संदर्भ में जाति और वर्ग के संबंध को काफ़ी स्पष्टता से देखा जा सकता है।

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 28

ऐसा इसलिए है कि जाति की जो राजनीतिक प्रक्रिया लोकतंत्र में बनी है वह बहुत अलग है। लोग अपनी जाति की पहचान को राजनीतिक साधन बनाते हैं। उनका लक्ष्य जाति के सामाजिक और अनुष्ठानिक पहलू को सशक्त करना नहीं होता। इसके बजाय वे राजनीति को अपने निजी उद्देश्यों के लिए एक उपकरण के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। इसे व्यक्तिगत हित के लिए सामूहिक साधन का उपयोग करना कहा जाएगा। इसीलिए जाति के गठजोड़ सामने आते हैं। वर्ना उत्तर प्रदेश में दलितों और ब्राह्मणों का गठजोड़ कैसे बनता!

हाल के एक विश्लेषण में संजय कुमार ने कहा है कि शहरी मतदाता ग्रामीण मतदाताओं के मुक़ाबले ज़्यादा अस्थिर होते हैं। ग्रामीण मतदाता अपनी पार्टी के प्रति ज़्यादा निष्ठावान रहते हैं, जबकि शहरी मतदाताओं की पार्टी-निष्ठा हर चुनाव में बदल जाती है। इस प्रवृत्ति के बारे में आप क्या कहना चाहेंगे?

शिक्षित और अशिक्षित होना मतदान-व्यवहार को वर्ग के सूचकांकों की तरह ही प्रभावित करता है। ... यह एक संरचनात्मक परिघटना है। जैसे-जैसे सामाजिक संरचना में बदलाव आया, वैसे-वैसे कांग्रेस के स्थायी ग्रामीण मतदाता भी बदलते रहे। इस पीढ़ी की शिक्षित संतानों ने कांग्रेस से मुँह फेर लिया।

धीरूभाई : यहाँ दो चीज़ें हैं। मतदान-व्यवहार को लेकर हमारी मान्यताएँ पाँचवें, छठें और सातवें दशक में गढ़ी गयी थीं। तब शहरीकरण और आधुनिकता का स्तर इतना जटिल नहीं था। ऐसे में हमारा सैद्धांतिक नज़रिया बहुत कुछ बौद्धिक स्थायित्व से भरा था जिसके तहत हम यह सोचते थे कि लोग इन चीज़ों को देख कर— सोच कर वोट देते हैं। इसके बाद हम अचानक वर्गीय सिद्धांतीकरण की तरफ़ मुड़ गये और उसे महत्त्व देने लगे। मुझे लगता है कि इस मामले में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण घटक है। शिक्षित और अशिक्षित होना मतदान-व्यवहार को वर्ग के सूचकांकों की तरह ही प्रभावित करता है। इसे अगर दूसरे ढंग से कहें तो पिछले वर्षों के दौरान लोग कांग्रेस से विमुख हुए हैं। यह एक संरचनात्मक परिघटना है। जैसे-जैसे सामाजिक संरचना में बदलाव आया, वैसे-वैसे कांग्रेस के स्थायी ग्रामीण मतदाता भी बदलते रहे। इस पीढ़ी की शिक्षित संतानों ने कांग्रेस से मुँह फेर लिया। कुल मिला कर मामला यह है कि देश में ग्रामीण क्षेत्र शहरी क्षेत्र से कहीं ज़्यादा बड़ा है, लेकिन यह कहना बौद्धिक रूप से ज़्यादा नफ़ीस लगता है कि यह सारा बदलाव शिक्षित, शहरी और मध्यवर्ग के ज़रिये आया है। लेकिन मध्यवर्ग का अगर कोई सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है तो वह शिक्षा है। अन्य चीज़ें इसके बाद या साथ आती हैं। इस तरह शिक्षा एक केंद्रीय कारक रही है। चुनाव-अध्ययन में इसीलिए शिक्षा को एक कारक के तौर पर रखा जाता है।

तो क्या आप यह कह रहे हैं कि मध्यवर्ग ज़्यादा शिक्षित होता है?

धीरूभाई : मैं इसका विरोध नहीं कर रहा। मैं इसकी व्याख्या करना चाहता हूँ। अगर आप मतदान-

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 29

व्यवहार के संबंध में पाँचवें और छठे दशक में गढ़ी गयी धारणाओं पर दुबारा दृष्टिपात् करने को तैयार हों तो आप बड़े चौंकाने वाले नतीजों पर पहुँचते हैं कि मध्यवर्ग अपनी निष्ठा बदलता रहता है। मैं इस सूत्र को नकार नहीं रहा। मेरा सवाल यह है कि इस बात का सैद्धांतिक निहितार्थ क्या है। इसका बुनियादी निहितार्थ यह है कि मध्यवर्ग पहचान के मुद्दे से कटने लगता है। पहचान और हितों का आपसी संबंध सिद्धांत की दृष्टि बहुत महत्त्व रखता है। मध्यवर्ग का हिस्सा बनने पर लोग अपनी पहचान से कटने लगते हैं। वे एक तरह से अपनी पहचान के परे जाने लगते हैं। वे सामूहिकता से हट कर वैयक्तिकता की ओर जाने लगते हैं। इसका मतलब यह नहीं मध्यवर्ग पहचान को राजनीति का साधन बनाने से गुरेज़ करने लगता हैं। मध्यवर्ग के लोग पहचान का इस्तेमाल कर भी सकते हैं और नहीं भी। वे अपने हितों के प्रति ज़्यादा चौकस होने लगते हैं। पहले वे पहचान को लेकर ज़्यादा सजग रहते थे लेकिन अब अपने हितों को ज़्यादा तवज्जो देते हैं। तो यह एक तरह से पहचान और हितों के संबंध को पुन: परिभाषित करने जैसा है। पहचान केवल राजनीतिक साधन के रूप में काम

> गुजरात में देश के अन्य हिस्सों की तुलना में शिक्षित और शहरी मध्यवर्ग की संख्या अपेक्षाकृत ज़्यादा है। वे स्वयं को हिंदू के रूप में देखते हैं। वहाँ अल्पसंख्यकों की संख्या कम है। इस तरह वहाँ मतदान-व्यहार में हिंदुत्व एक आधार की तरह काम करता है। ... वहाँ दलित और अन्य पिछड़े वर्ग पहले हिंदू हैं बाद में कुछ और।

करती है। उससे अन्य हित पूरे नहीं होते। गुजरात में भाजपा की सफलता को मैं इसी नज़रिये से देखता हूँ। गुजरात में भाजपा का आधार मध्यवर्ग है। गुजरात में देश के अन्य हिस्सों की तुलना में शिक्षित और शहरी मध्यवर्ग की संख्या अपेक्षाकृत ज़्यादा है। वे स्वयं को हिंदू के रूप में देखते हैं। वहाँ अल्पसंख्यकों की संख्या कम है। इस तरह वहाँ मतदान-व्यवहार में हिंदुत्व एक आधार की तरह काम करता है। यह एक नयी तरह की पहचान है। वहाँ दलित और अन्य पिछड़े वर्ग पहले हिंदू हैं बाद में कुछ और। यह पहचान की एक परा-श्रेणी है जो हिंदुत्व के ज़रिये उभरी है। मोदी की चुनावी सफलता के पीछे यह एक महत्त्वपूर्ण कारक है।

क्या आप इसे वर्ग की एक नयी पहचान का नाम देंगे?

धीरूभाई : नहीं, कांग्रेस के सामने भी ऐसी ही स्थितियाँ थी। लोग कांग्रेस के साथ भी लम्बे समय तक रहे। उनकी निष्ठा नहीं बदली। अब वहाँ एक नया संदर्भ है जिसमें गुजरात का वोटर अपनी निष्ठा को नहीं बदलना चाहता। लेकिन अगर मोदी का मॉडल नाकाम हो जाए तो उनकी निष्ठा कल फिर बदल सकती है। उनका सरोकार केवल यह है कि उनका विकास कितना हो रहा है। वहाँ हिंदुत्व है। वह एक तरह से सत्ता का सांस्कृतिक आधार है। लेकिन अगर मोदी वृद्धि-दर और विकास जैसे मामलों में विफल हो जाते हैं तो यह मध्यवर्ग निश्चित रूप से मोदी से मुँह फेर लेगा। मोदी हिंदुत्व का झण्डा थामे रखें या नहीं! ऐसा कई राज्यों में पहले भी हो चुका है। हमें यह समझने की ज़रूरत है कि हिंदुत्व एक धार्मिक-सामाजिक श्रेणी है। वह महज़ एक दल की श्रेणी नहीं है। कांग्रेस में भी

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 30

हिंदुत्ववादी उतने ही हैं जितने भाजपा में। लेकिन जब हिंदुत्व एक राजनीतिक शक्ल अख़्तियार करता है और सत्ता पाने का साधन बन जाता है तो वह एक अलग चीज़ बन जाता है।

लोकसभा के इन चुनावों में कहा जा रहा है कि अन्य पिछड़े वर्ग भाजपा को वोट देंगे। मेरा सवाल यह है कि क्या इस चुनाव में लोग जाति की निष्ठा से परे जाकर भी वोट देंगे?

धीरूभाई : हम आमतौर पर यह मान कर चलते हैं कि लोग विचारधाराओं से प्रेरित होकर आचरण करते हैं। लेकिन हक़ीक़त यह है कि उदारतावादी लोकतंत्र में लोग अपने हितों के हिसाब से चलते हैं। मुख्यत: अपने आर्थिक हितों की दृष्टि से सोचते हैं कि उनके साथ क्या होने जा रहा है। वे देखते हैं कि उन्हें रोज़गार के ज़्यादा अवसर मिलेंगे या बाज़ार में उनके पास क्या विकल्प होंगे। ऐसा नहीं है कि उन्होंने हिंदुत्व छोड़ दिया या जाति की विचारधारा छोड़ दी, और वह सब छोड़ने के बाद यहाँ आ रहे हैं। मुझे इसी बात से दिक़्क़त है कि हम सेफ़ोलॅजी को पर्यवेक्षण के स्तर पर रखते हैं। लेकिन ओबीसी राज्यवार भी बदलता रहता है। कुल मिला कर बहुमत तब आता है जब सब लोग इस तरफ़ आते हैं। इस बीच शायद लोगों की ख़्वाहिशें बहुत बढ़ गयी हैं। लोगों को लगता है कि पिछले कुछ सालों में कुछ-कुछ अच्छा हुआ है। 2004 से 2009 के बीच में शहरी मध्यवर्ग में कुछ ऐसी हवा चली कि चीज़ें बदल रही हैं; चीज़ें हो रही हैं। लोगबाग बिना आगे की सोचे ख़र्च करने लगे हैं। लोगों को खुलेपन का अहसास होने लगा है।

2004 में कांग्रेस की जीत को भाग्य का मामला ज़्यादा कहा जाएगा। उस चुनाव में सत्ता की सुई किसी भी तरफ़ घूम सकती थी। यहाँ पुरानी तर्ज़ के कई सिद्धांतकार कह सकते हैं कि इस चीज़ का ग़रीब लोगों से क्या संबंध है लेकिन यहाँ हमें वंचित वर्गों की कामनाओं को भी अलग ढंग से शामिल करना पड़ेगा। उनकी कामनाओं को ख़ारिज न करके उनका यह हक़ मानना पड़ेगा कि उनकी भी ख़्वाहिशें हो सकती हैं। 2009 में कांगेस को 206 सीटें मिली। इसे एक मुक़म्मल कामयाबी से कम नहीं माना जाएगा। अबकी बार यही लोग कांग्रेस का साथ छोड़ने वालों में शुमार होंगे। और यह सब हिंदुत्व के कारण नहीं होगा। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि उनकी ख़्वाहिशें पूरी नहीं हो पायीं। और, ध्यान रहे कि अब वह मध्यवर्ग पहले से बहुत बड़ा हो गया है। और उसकी इच्छाएँ भी पहले से ज़्यादा हो गयी हैं। उनके वोट उस तरफ़ जाएँगे शायद!

आपने कहा कि हमारे यहाँ जिस तरह का समाजशास्त्र था उसमें चुनाव का समाजशास्त्र सम्भव नहीं था। लेकिन अगर हम साहित्य, दर्शन या नारीवाद के समाजशास्त्र की तरह भारत में चुनाव के समाजशास्त्र की बात करें तो क्या हमें समष्टिगत समाजशास्त्र विकसित करना होगा या इसकी जगह देश की विभिन्नताओं को देखते हुए हमें कई तरह के व्यष्टिगत समाजशास्त्र विकसित करने होंगे?

धीरूभाई : व्यष्टिगत समाजशास्त्र का अस्तित्व हमेशा बना रहेगा। लेकिन, जैसा कि मेरे मित्र ए.एम. शाह कहते हैं कि वर्म्स आई व्यू और बड्र्स आई व्यू— यानी नज़दीक से देखने और दूर से देखने में बहुत फ़र्क़ होता है। वैसे मूलत: यह अभिव्यक्ति एम.एन. श्रीनिवास की है। जहाँ तक मेरी बात है, मैं तो चीज़ों को नज़दीक से देखता हूँ। श्रीनिवास की दृष्टि विहंगम थी। लेकिन यह एक सामान्य सी बात है। इसे आगे खींचने में कोई तुक नहीं है। भारत के अकादमिक प्रतिष्ठान में वाम और दक्षिण की ख़ेमेबंदी इस क़दर जड़ जमा चुकी है कि कई लोग तो चुनावी आँकड़ों का इस्तेमाल तक नहीं करना चाहते। यह तो ज्ञान के प्रति पूरी तरह एक ब्राह्मणवादी रवैया है। इसका मैक्रो या माइक्रो से कोई मतलब नहीं है। इसका मक़सद कुल इतना है कि उनके कहे को कैसे सबसे ऊँचा माना जाए और दुनिया भर में उनकी यश-कीर्ति कैसे फैले। मैं तो चुनाव-अध्ययन का भी आँख मूँद कर समर्थन

नहीं करता, क्योंकि बहुत सारे चुनावशास्त्री इसे अपने लिए इस्तेमाल करते हैं। भले ही इसके पीछे उनकी मंशा पूरी तरह ठीक हो। लेकिन एक राजनीतिक समाजशास्त्री के तौर पर मैं समाज का अध्ययन करने के लिए समष्टिगत अध्ययन में भी कई मोर्चों या बिंदुओं का इस्तेमाल करना चाहूँगा। केवल ऊपर-ऊपर देखकर काम नहीं किया जा सकता। इस चीज़ से बचा नहीं जा सकता। राजनीतिक एथनॉग्रफ़ी तथा सर्वे रिसर्च को थियरी का हिस्सा बनाया जाना चाहिए। हमारे यहाँ सिद्धांतीकरण का उद्यम अभी भी पुरानी विचारधाराओं और जड़ीभूत क्षणों से निर्देशित हो रहा है। मसलन, अपने दौर के तमाम सिद्धांतों की ओर देखें, सेकुलरवाद की ओर देखें, भारतीय राज्य, राजनीतिक सत्ता इत्यादि के बारे में सोचें और देखें कि वे नयी हक़ीक़तों से किस सीमा तक प्रतिकृत हो रहे हैं या हुए हैं।

भारत में व्यष्टिगत और समष्टिगत समाजशास्त्र, दोनों सम्भव हैं। समष्टिगत इसलिए सम्भव है क्योंकि लोकतंत्र स्वयं एक मैक्रो संरचना है। आधुनिकता भी इसी श्रेणी में आती है। गहराई से देखें तो पूरा मसला लोकतंत्र और आधुनिकता की द्वंद्वात्मकता का है। ग़ौर करें कि आधुनिकता के प्रति धीरे-धीरे स्वीकार्यता का भाव लोकतंत्र के कारण बढ़ा है। अगर लोकतंत्र का हस्तक्षेप न हुआ होता तो आधुनिकता अभिजन समूहों की एक सर्वसत्तावादी विचारधारा बन जाती। आप चाहें तो इसे पोलपॉटिज़म कह सकते हैं जिसमें यह थोप दिया जाता है कि क्या सही और सबसे अच्छा है और क्या ग़लत है। इस मामले में आप खाप को भी ले सकते हैं। लोग कहते हैं कि खाप पर पाबंदी लगा देनी चाहिए। लेकिन मैं पाबंदी या प्रतिबंध के ख़िलाफ़ हूँ, क्योंकि दुनिया में प्रतिबंध की संस्थाएँ कहीं सफ़ल नहीं हो पायी हैं। खाप का सुधार किया जाना चाहिए। उसके द्वारा किये गये अन्याय को व्यक्तिगत अपराध की श्रेणी में रखा जाना चाहिए और उसकी हरकतों को दण्ड विधान के अनुसार दण्डित किया जाना चाहिए। लेकिन आप परिवार पर तो प्रतिबंध नहीं लगा सकते जबकि ज़्यादातर हत्याएँ और बलात्कार परिवार में होते हैं। लेकिन खाप पर प्रतिबंध लगाने की बात एक ऐसा राजनीतिक मसला बन गया है जिस पर कोई जोखिम उठाना नहीं चाहता। जैसे ही आप उसके पक्ष में ज़रा सा भी कुछ कहते हैं तो हल्ला मच जाता है। इस तरह की वैचारिक फ़िरक़ापरस्ती अकादमिक जगत में भी घुस चुकी है। लेकिन, अभी इस मुद्दे पर आगे बात करना ठीक नहीं होगा। इसलिए जहाँ तक चुनाव के मैक्रो समाजशास्त्र का प्रश्न है तो उसकी उपयोगिता तभी है जब उसके लक्ष्य व्यष्टिगत हों और इन लक्ष्यों पर निरंतर अमल किया जाए। व्यष्टिगत या समष्टिगत के द्विभाजन या जिसे कुछ लोग मिडिल रेंज कहते हैं, उसका अपने आप में कोई ख़ास महत्त्व नहीं है। क्या हम आज उत्तर प्रदेश के चुनावों की आंध्र प्रदेश के चुनावों से तुलना कर सकते हैं? ज़ाहिर है कि दोनों में अलग अलग तरह के फ़र्क़ हैं— कहीं समय का तो कहीं विकसित या अविकसित कारकों का। इसलिए बिहार और उत्तर प्रदेश की राजनीति अलग हो जाती है। समष्टिगत और व्यष्टिगत अप्रोच की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। जहाँ तक मेरी बात है तो मैं समष्टिगत सिद्धांत को तरजीह देता हूँ। लेकिन मेरा मानना है कि इस समष्टिगत सिद्धांत को भिन्न-भिन्न स्थितियों के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। उसे यह देखना चाहिए कि विभिन्न राज्यों में लोकतंत्रीकरण का दर्जा कैसा है। इस प्रकार मैक्रो सिद्धांतीकरण को अपने प्रतिमान इन चीज़ों के आधार पर विकसित करने चाहिए।

हम अक्सर राजनीतिक समुदाय की बात करते हैं। किसी समुदाय को राजनीतिक समुदाय कहने का तो फ़ैशन सा बन गया है। मसलन जब हम दलितों की बात करते हैं तो उन्हें एक राजनीतिक समुदाय बताते हैं। यह बहस भी चलती है कि क्या मुसलमान एक राजनीतिक समुदाय के रूप में काम करते हैं या क्या बड़ी और ताक़तवर जातियों के समूहों को राजनीतिक समुदाय माना जा सकता है। मसलन, जब वोक्कालिगा भाजपा छोड़ कर चले जाते हैं तो पार्टी ध्वस्त हो जाती है और अगर वे पार्टी में लौट आते हैं तो उसकी जीत के आसार बढ़ जाते हैं। तो हम जानना चाहते हैं कि आप एक राजनीतिक

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 32

समुदाय और समुदाय में किस तरह फ़र्क़ करते हैं? दूसरे, क्या भविष्य में ऐसा भी समय आ सकता है जब ये दोनों एकमेक हो जाएँ?

धीरूभाई : आपने जो आख़िरी बात कही, असली समस्या वही है। यह एक धारणा का मसला है। राजनीति-विज्ञान में जब राजनीतिक समुदाय के विचार ने प्रमुखता हासिल की तो उसे आधुनिकीकरण की थीसिस के एक पहलू की तरह देखा गया कि लोग जैसे जैसे आधुनिक होते जाएँगे तो उनका अपनी पूर्व-आधुनिक या आदिम पहचानों से नाता टूटता जाएगा और वे नागरिक समुदाय के रूप में संगठित होने लगेंगे। स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व भी ऐसी ही उम्मीद करता था कि अंततः देश के सभी लोग नागरिक बन जाएँगे और सभी के पास समान अधिकार होंगे। लेकिन मुझे लगता है कि राजनीतिक समुदाय एक हक़ीक़त है, लेकिन उसका अर्थ सीमित है। वह नेटवर्क और राजनीतिक साधनों से उभरती है जिसके बारे में हम पहले चर्चा कर चुके हैं। यह हक़ीक़त विभिन्न समुदायों के बीच चलने वाली साझे हितों की प्रक्रिया का परिणाम है। इसके पीछे एक सैद्धांतिक समझ भी थी कि जब आप एक राजनीतिक समुदाय बन जाते हैं तो आपका अपने मूल या प्राथमिक समुदाय से संबंध

राजनीतिक समुदाय कहने के बजाय कई समुदायों का राजनीतिक उभार कहना ज़्यादा उचित होगा। लेकिन इस परिघटना में छोटे समुदायों का बड़े समुदायों में विलय नहीं हो जाता। वे बड़े राजनीतिक उभार में शामिल होने के बावजूद अपना माइक्रो वजूद बनाये रखते हैं।

या जुड़ाव और उसके प्रति आपकी निष्ठा ख़त्म होने लगती है। तो यह बात पूरी तरह सही है कि चाहे उत्तर प्रदेश हो या तमिलनाडु, दलित एक राजनीतिक समुदाय है। जब एक निश्चित अर्थ में दलितों या मुसलमानों की बात की जाती है और किसी मुद्दे को लेकर उनके बीच में लामबंदी होती है और राजनीति की जाती है तो इस प्रक्रिया में पार्टी भी बनाई जाती है। इस तरह एक राजनीतिक समुदाय का निहित अर्थ यह होता है कि वह पहचान का इस्तेमाल करते हुए राजनीतिक साधन जुटाने का प्रयत्न करता है। लेकिन एक राजनीतिक समुदाय होने के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि माला या मादिगा के बीच राजनीतिक या सामाजिक अंतर नहीं है।

यानी आप कह रहे हैं कि उनका मतदान-व्यवहार अलग-अलग हो सकता है लेकिन इससे उनके राजनीतिक समुदाय होने पर आँच नहीं आती।

धीरूभाई : यहाँ पैमाने का मुद्दा भी अहमियत रखता है। मसलन, अगर चुनाव राष्ट्रीय स्तर का हो तो दलित हितों के लिए माला और मादिगा एक साथ आ सकते हैं। हाँ, इस बीच एक बात निश्चित रूप से हुई है कि प्राथमिक और सूक्ष्म समुदाय भी बृहत्तर राजनीतिक उभार में परिणत होने लगे हैं। मुझे लगता है कि इस चीज़ को राजनीतिक समुदाय कहने के बजाय कई समुदायों का राजनीतिक उभार कहना ज़्यादा उचित होगा। लेकिन इस परिघटना में छोटे समुदायों का बड़े समुदायों में विलय नहीं हो जाता। वे बड़े राजनीतिक उभार में शामिल होने के बावजूद अपना माइक्रो वजूद बनाये रखते हैं।

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 33

राजनीतिक उभार का स्तर हितों के स्तर से संचालित होता है। जैसे ही हितों के स्तर में बदलाव आता है वैसे ही राजनीतिक उभार का स्तर भी बदल जाता है।

अब ज़रा उस लोकप्रिय अवधारणा के बारे में बात करें जिसे वोट बैंक कहा जाता है।

धीरूभाई : श्रीनिवास ने इस पद का प्रयोग आमफ़हम ढंग से किया है।

लेकिन पत्रकारिता और सेफ़ोलॉजी के दायरे में इस शब्द का इस्तेमाल धड़ल्ले से होता है।

धीरूभाई : हाँ, यही बात ज़्यादा अहम है। श्रीनिवास ने स्वयं कभी इस शब्द का प्रयोग नहीं किया। आंद्रे बेते ने कहा है कि श्रीनिवास ने एक बार इस शब्द का प्रयोग किया था।

सवाल यह है कि क्या भारतीय राजनीति में वोट बैंक जैसी कोई चीज़ है या उसके पक्ष में सबूत जुटाए जा सकते हैं।

अगर वोट बैंक और पार्टी का यह संबंध इतना ही सपाट और सीधा रहा होता तो किसी पार्टी में कोई बदलाव ही नहीं होता। पार्टी में बदलाव इसलिए आता है क्योंकि वोट बैंक भी बदल जाते हैं। और वे किसी अन्य पार्टी की ओर खिसक जाते हैं। ... मतदाता का रुझान मुख्यत: आर्थिक हितों से तय होता है।

धीरूभाई : मुझे लगता है कि वोट बैंक पत्रकारिता में प्रयोग किया जाने वाला पद है। लेकिन अब इसका अकादमिक जगत में भी इस्तेमाल किया जाने लगा है। लेकिन, अगर आप वोट बैंक का प्रयोग मतदाता की व्यक्तिगत निष्ठा के रूप में करते हैं तो शायद बहुत उचित नहीं होगा। इसे किसी अमुक व्यक्ति की निष्ठा के तौर पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। इसे हम समुदाय की निष्ठा के तौर पर ही इस्तेमाल कर सकते हैं। मसलन लोढा समुदाय के नेताओं के कहने पर अगर समुदाय के लोग अमुक पार्टी को वोट देने के लिए तैयार हो जाएँ तो वोट बैंक की परिभाषा यही मानी जाती है। पर मुझे लगता है कि यह अवधारणा शुरू से ही ग़लत रही है। हाँ, यह बात ज़रूर कही जा सकती है कि अमुक समुदाय किसी पार्टी को अपने लिए फ़ायदेमंद मान सकता है और उसके पक्ष में वोट डाल सकता है। लेकिन अगर वोट बैंक और पार्टी का यह संबंध इतना ही सपाट और सीधा रहा होता तो किसी भी पार्टी में कोई बदलाव ही नहीं होता। पार्टी में बदलाव इसलिए आता है क्योंकि वोट बैंक भी बदल जाते हैं। और वे किसी अन्य पार्टी की ओर खिसक जाते हैं। तो, किसी एक जगह वोट डालने की यह परिघटना निस्संदेह मौजूद रही है। लेकिन मतदाता का रुझान या कहें कि वोट बैंक का बनना कई चीज़ों पर निर्भर करता है। अगर लोगों को लोकतंत्र के लाभ मिलते रहें, उनकी धारणा और उनके अनुभवों में संगति बने रहे तो वोट बैंक क़ायम रहता है, वरना उसका दिवाला निकल जाता है। ऐसे में लोग किसी अन्य धड़े की तरफ़ चले जाते हैं। मतदाता का रुझान मुख्यत: आर्थिक हितों से तय होता है।

चुनाव अध्ययन को विकसित करने में सी.एस.डी.एस. की प्रमुख भूमिका रही है। आप और कोठारी

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 34

जैसे लोग चुनावों का जिस तरह से अध्ययन करते थे उसमें राजनीतिक समाजशास्त्र की भूमिका ज़्यादा महत्त्वपूर्ण रहती थी। लेकिन बाद में यहाँ सेफ़ोलॅजी पर ख़ूब काम हुआ और अब भी हो रहा है। किंतु उसमें राजनीतिक समाजशास्त्र का तत्व उतना प्रबल नहीं है जितना आप के दौर में हुआ करता था। अगर आप इस लम्बी अवधि का सिंहावलोकन करें तो सी.एस.डी.एस. की भूमिका का मूल्यांकन कैसे करेंगे?

धीरूभाई : मुझे लगता है कि हमारे बाद सी.एस.डी.एस. में जो हुआ है वह भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। योगेंद्र यादव, सुहास पलशीकर और संजय आदि ने अच्छा काम किया है। लेकिन हमें कुछ और भी उम्मीदें थी। इस बीच सी.एस.डी.एस. के काम में समाजशास्त्र का तत्व क्षीण हो गया है, और राजनीतिक तत्त्व ज़्यादा प्रबल हो गये हैं। इस लिहाज़ से मुझे नहीं लगता कि अब राजनीतिक समाजशास्त्र पर काम हो रहा है, लेकिन राजनीति विज्ञान की दृष्टि से अच्छा काम किया जा रहा है। कई नयी चीज़ें आयी हैं। चुनावों को पुनः परिभाषित करने का प्रयत्न हुआ है। लोकतांत्रिक चेतना के उभार पर काम हुआ है। लेकिन मैं सिर्फ़ इससे संतुष्ट नहीं हो पाता। अगर हम चुनाव के बारे में पूर्वानुमान लगाने का काम छोड़ दें तो राजनीतिक समाजशास्त्र के आँकड़ों पर ध्यान दिया जा सकेगा। दूसरी बात परिप्रेक्ष्य की है। परिवार में सत्ता का समाजशास्त्र, गाँव में जाति की शक्ति का समाजशास्त्र या किसी क्षेत्र में राजनीतिक सत्ता का समाजशास्त्र चुनावी अध्ययन के परिप्रेक्ष्य से मेल नहीं खाता। मसलन, गुजरात में दंगों के बाद होने वाले चुनाव को देखें। शुरू में लोग यह मान रहे थे कि यह गुजरात तक सीमित था। लेकिन शाइनिंग इण्डिया अभियान में भाजपा की स्थिति ख़राब होने के बाद उसे ख़ामियाजा उठाना पड़ा। हालाँकि इसे बड़ा नुक़सान इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाजपा और कांग्रेस की सीटों में बहुत अंतर नहीं था, परंतु अंततः कांग्रेस की जीत हुई और भाजपा को हार का सामना करना पड़ा। मुझे लगता है कि हमें इस तरह की परिघटना समझने के लिए इस बात का अध्ययन करना चाहिए कि मतदाता कैसे एक पार्टी से दूसरी पार्टी की ओर शिफ़्ट कर जाते हैं। मैंने इन चुनावों के बाद 2004 सेमिनार में एक लेख लिखा था और इसके लिए सी.एस.डी.एस. के सहकर्मियों के आँकड़ों का इस्तेमाल किया था। मैंने उस लेख में कहा था कि भाजपा को 2002 के दंगों का नुक़सान उठाना पड़ा। वह दंगों को लेकर राष्ट्रीय स्तर पर कोई सफ़ाई पेश नहीं कर सकी। मुझे नहीं लगता कि इसमें शाइनिंग इण्डिया आदि जैसे कारकों का कोई योगदान था।

आप कहते रहे हैं कि भाजपा को 1998 में फ्लोटिंग वोट मिले थे। बाद में 2002 के दंगों के बाद इन मतदाताओं ने भाजपा से नाता तोड़ लिया। लिहाज़ा 2004 में पार्टी को इसका नुक़सान उठाना पड़ा?

धीरूभाई : मैं यह बात इसलिए कहता रहा हूँ क्योंकि इसमें मुझे एक पॉवर शिफ़्ट दिखायी देता है। शाइनिंग इण्डिया से किसी को दिक़्क़त नहीं थी। वह लोगों के माफ़िक़ पड़ रहा था। लेकिन अगर आप अल्पसंख्यक राजनीति के इतिहास पर नज़र डालें तो क्या आपको यह नहीं लगता कि ऐसी किसी घटना का उत्तर प्रदेश में असर नहीं होगा। लोग कह रहे थे कि दंगा सिर्फ़ गुजरात तक सीमित था और वह बाहर नहीं फैला। लेकिन दंगे की सूचना तो बाहर गयी। तो चुनाव-अध्ययन में समाजशास्त्रीय पहलू शामिल करना मैं इसी को कहता हूँ। उसमें कई अन्य चीज़ें भी शामिल हैं जिनका मैं समयाभाव के कारण पूरी तरह ज़िक्र नहीं कर पाऊँगा। सच यह है कि हमारे चुनाव-अध्ययन मुख्यतः राजनीतिक होते जा रहे हैं। उसमें समाजशास्त्री अंतर्वस्तु कम है। अभी तक मैंने जो पढ़ा है वह राजनीतिक अंतर्वस्तु के लिहाज़ से अच्छा है।

भारत में अब जो भी राजनीतिक पार्टियाँ बन रही हैं उनका दावा चाहे जो हो लेकिन वे मूलतः जातियों

की पार्टी बनती जा रही हैं। एकाध अपवाद को छोड़ दें तो लगभग सभी दल किसी न किसी जाति की नुमाइंदगी करते हैं। इन दलों के नेतृत्व की कोशिश होती है कि वे दूसरी जातियों के साथ गठजोड़ बना लें लेकिन उसमें भी एक जाति का हित प्रमुख होता है। मसलन, कांग्रेस जब मुसलमानों और दलितों के साथ गठजोड़ बनाती थी उसमें ब्राह्मणों का वर्चस्व रहता था। इसी तरह भाजपा के गठजोड़ में भी ब्राह्मण ही हावी रहते हैं। दूसरी पार्टियाँ तो खुले तौर पर जातियों की पार्टी हैं। मसलन, सपा यादवों की पार्टी है। बसपा दलितों की पार्टी है। कोई कम्माओं की पार्टी है। कोई रेड्डियों की पार्टी है। कर्नाटक में भाजपा वोक्कलिगाओं की पार्टी है। जनता दल (सेकुलर) लिंगायतों की पार्टी है। अब तो गठजोड़ की राजनीति के कारण खुले तौर पर छोटी बिरादरियाँ भी अपनी पार्टी बनाने लगी हैं। रजनी कोठारी ने जातियों के राजनीतीकरण की थीसिस दी थी लेकिन अब साफ़ दिख रहा है कि पार्टियों का जातिवादीकरण हो गया है और रजनी कोठारी की थीसिस सिर के बल खड़ी हो गयी है। आप इस परिघटना को कैसे देखते हैं?

धीरूभाई : हाँ, इस बात पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। क्योंकि तब कोठारी की थीसिस की तूती बोल रही थी। यह ठीक है कि अब पार्टियों का जातिवादीकरण हो रहा है लेकिन यह इतना सरल मामला नहीं है। जातियों के राजनीतीकरण का थीसिस बहुत स्पष्ट है। आप जिसे पार्टियों का जातिवादीकरण कह रहे हैं वह एक काउंटर प्रक्रिया तो ज़रूर है परंतु उसमें भी राजनीतीकरण जारी रहता है। यह जातिवादीकरण काफ़ी हद राजनीतीकरण भी है। लेकिन जाति के एक बड़े दायरे में रुक जाता है। अगर कोई जाति राजनीतिक साधन की दृष्टि से अक्षम हो जाएगी तो वह महज़ सामाजिक बन कर रह जाएगी। वह राजनीतिक नहीं रह पाएगी। मेरे कहने का मतलब है कि जातिवादीकरण में राजनीतीकरण का आयाम दूसरे ढंग से सक्रिय रहता है। जिसका लक्ष्य यह होता है कि प्रतिनिधित्व के लिए राजनीतिक साधन का विकास कैसे किया जाए। लेकिन यहाँ मैं मुख्यत: इस चीज़ पर बात नहीं कर रहा। मेरा सरोकार यहाँ राजनीति से है। मेरा मानना है कि भारत में राजनीति और राजनीतिक संगठन कृत्रिम हैं। वे लोकतंत्र के अनुरूप नहीं है।

ऐसा इसलिए है कि हमारे यहाँ सब कुछ केंद्र से चलता है। मुझे लगता है कि छोटी और ज़मीनी पार्टियों को वास्तव में सच्चा राजनीतिक संगठन कहा जा सकता है। राजनीतिक रूप से वही ज़्यादा जीवंत होती हैं क्योंकि उनमें नेतृत्व और समर्थकों के बीच सीधा सम्पर्क होता है। उनके बीच संदेशों का आदान-प्रदान होता रहता है। मुझे लगता है कि यह स्थिति सहभागी लोकतंत्र के लिए बेहद अनुकूल होती है। संघीय ढाँचे में ऐसे दल ही ज़्यादा उपयुक्त होते हैं। इसमें केवल जातिवाद की बात नहीं है। यहाँ मुख्य बात यह है कि लोगों को लोकतंत्र का अनुभव किस तरह से होता है। चूँकि हमारे राजनीतिक संगठनों में केंद्रीकरण की प्रवृत्ति बहुत मजबूत होती है इसलिए हमारे सामने जातिवादीकरण की परिघटनाएँ ज़्यादा आ रही हैं।

मुझे लगता है कि अगर राजनीति में सहभागी और स्थानीय संस्थाओं की संख्या बढ़ जाए और उनके पास राजनीतिक ताक़त भी हो तो इससे जातिवादी राजनीति के बजाय लोकतंत्र मजबूत होगा। हमारे यहाँ राज्य और लोकतांत्रिक प्रक्रिया में समायोजन बहुत कम है। लोकतंत्र का अर्थ ही प्राथमिक और स्थानीय होना होता है। जिसमें व्यक्ति भाग ले सकता है या किसी को ज़िम्मेदार ठहरा सकता है। किसी बात का विरोध या अनुमोदन कर सकता है। इसलिए नेता और जनता के बीच छोटी पार्टियों में, जिन्हें हम जातिवादी कह रहे हैं, ज़्यादा नज़दीकी रिश्ता होता है। इस तरह यह जातिवादीकरण हमारी लोकतंत्रीकरण का ही हिस्सा है। लेकिन मैं यह नहीं कह सकता कि इससे लोकतंत्र को अनिवार्य रूप से फ़ायदा ही पहुँचेगा।

लेकिन आप जो कह रहे हैं उसका नतीजा तो यही निकलता है?

02_dhirubhai_Layout 1 5/1/2014 3:22 PM Page 36

धीरूभाई : नहीं, अगर लोकतंत्र की संरचना नहीं बदलती तो इससे लोकतंत्र को फ़ायदा नहीं होगा। यह तो एक प्रक्रिया है जो किसी भी दिशा में जा सकती है। ये जो तमाम अधिकार दिये गये हैं— जैसे भोजन का अधिकार, ये सब केंद्र से आते हैं। क्या हम भारत के आख़री आदमी का पेट दिल्ली में बैठ कर भर सकते हैं। अगर राज्य से लेकर ज़िला स्तर तक सत्ता आधारित पार्टियों का वजूद हो तो यह बेहतर होगा।

लेकिन लोकतंत्र में बहुमत हासिल करने के लिए जोड़-तोड़ करना पड़ता है शायद इसीलिए राजनीतिक सत्ता फेडरेट नहीं हो पाती ?

धीरूभाई : हाँ, कहीं सत्ता पर परिवार बैठा हुआ है। कहीं पर अंग्रेज़ीदाँ इलीट बैठा है। और सभी अपनी सत्ता को और फैलाना चाहते हैं।

हमारे यहाँ पार्टियों पर आलाकमान की संस्कृति हावी है। उम्मीदवारों के चयन में भी। इसके ख़िलाफ़ पार्टियों में छोटे-छोटे विद्रोह होते हैं। हमारे यहाँ उम्मीदवार तय करने के लिए प्राईमरीज़ की कोई व्यवस्था नहीं है। वैसे भी हमारी फ़र्स्ट पास्ट द पोस्ट प्रणाली में यह व्यवस्था क़ायम ही नहीं की जा सकती। तो मुझे लगता है कि हमारे यहाँ एक व्यवस्थामूलक समस्या भी है जिसके कारण राजनीतिक सत्ता फेडरेट नहीं हो पाती है तो क्या आपके पास राजनीतिक समाजशास्त्र विकसित करने का कोई एजेण्डा है?

धीरूभाई : मुझे लगता है राजनीतिक समाजशास्त्रियों को इस बात का भी अध्ययन करना चाहिए कि दो चुनावों के बीच क्या-क्या होता है। इसके अलावा इस बीच व्यष्टिगत अध्ययन भी किये जाने चाहिए ताकि समष्टिगत दृश्य को बेहतर तरीक़े से समझा जा सके। लेकिन हमारे यहाँ तो अकादमिक जगत में एक ब्राह्मणवादी मानसिकता हावी है। जो लोग समष्टिगत अध्ययन करते हैं उन्हें व्यष्टिगत अध्ययन करना एक घटिया और कमतर काम लगता है। इसे देख कर लगता है कि भारत में ज्ञान का ब्राह्मणवादी ढाँचा कमज़ोर होने के बजाय और मज़बूत हुआ है। इसके पीछे भूमण्डलीकरण का भी एक पहलू है क्योंकि धीरे-धीरे हम अकादमिक सत्ता की विश्वव्यापी संरचनाओं से भी ज़्यादा जुड़ते जा रहे हैं। ऐसे में अगर आप कुछ अलग तरह का काम करना चाहते हैं तो वे आपके साथ संबंध बनाना नहीं चाहेंगे। चुनाव-अध्ययन के साथ तो समस्या है ही, राजनीतिक एथनॉग्राफ़ी भी अच्छी हालत में नहीं है।